

मोर्चेबंद संप्रभुता: भारत, संयुक्त राष्ट्र संघ और मानवतावादी हस्तक्षेप
Embattled Sovereignty: India, the UN, and Humanitarian Intervention

रोहन मुखर्जी

Rohan Mukherjee

February 11, 2013

31 दिसंबर, 2012 को भारत ने अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए विश्व की प्रमुखतम बहुपक्षीय संस्था संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में अपना सातवाँ दोवर्षीय अस्थायी सदस्यता का कार्यकाल पूरा किया है। आरंभ में कई विश्लेषकों ने इस अवधि को दिल्ली द्वारा वांछित और संभावित स्थायी सीट के लिए एक “प्रयोग” माना था। अंत में कई विश्लेषकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत इस प्रयोग में विफल रहा है। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद को अधिक प्रभावी संस्था बनाने में रचनात्मक भूमिका निभाने के बजाय इन विश्लेषकों का कहना है कि भारत मात्र “एक दर्शक की भूमिका” ही निभाता रहा है और वह भूमिका भी अच्छी नहीं रही है। यह सवाल देशों के बीच मानवतावादी हस्तक्षेप या व्यवस्थित रूप में मानवाधिकारों का दुरुपयोग होने पर नागरिकों को बचाने के लिए सैन्यबल के उपयोग के मामले से जुड़ गया है। आलोचकों ने आइवरी कोस्ट, लीबिया और सीरिया में भयानक संकट के दौरान दिल्ली के हठ की ओर संकेत किया है।

भारत एक ऐसा उदार लोकतांत्रिक देश है, जिसके नेताओं में विश्वबंधुत्व की लंबी परंपरा रही है। इसलिए यदि वह सशस्त्र संघर्ष के दौरान नागरिकों की सुरक्षा के लिए की जाने वाली कार्रवाइयों का विरोध करता है तो हैरानी होती है। आखिरकार भारतीय राजनेता और भारतीय जनता मानव जीवन की क्षति के प्रति कतई बेपरवाह नहीं हैं और अन्य देशों में नागरिकों पर होने वाले अत्याचार को देखकर आँखें भी नहीं मूँद सकते। भारत के हठ की व्याख्या दो तरीकों से की जा सकती है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शीत युद्ध की समाप्ति के बाद से संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की भूमिका हस्तक्षेप करने वाले संगठन की अधिक हो गयी है और वह अपना अधिकाधिक ध्यान बढ़ते संघर्षों पर केंद्रित करने लगी है। उदाहरण के लिए सन् 2012 में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने 1990 के बाद शांति बनाये रखने के लिए तीन चौथाई मिशन अर्थात् बहत्तर मिशन पूरे किये थे। देशीय स्तर पर भारत की राज्य स्तर की क्षमता आज़ादी के बाद से कमज़ोर ही हुई है। भारत में संगठित गैर-राष्ट्रीय समूहों द्वारा व्यवस्थित रूप में और लगातार की जाने वाली प्रमुख हिंसक झड़पों की संख्या सन् 1949 में दो थी, लेकिन सन् 1991 में यह संख्या बढ़कर दस हो गयी। इससे यह परिणाम निकलता है कि भविष्य में संघर्ष के ये क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वैध हस्तक्षेप के लिए भारत को बेनकाब कर सकते हैं।

लोकप्रिय धारणा के विपरीत, भारत हमेशा ही दूसरे देशों के घरेलू मामलों में दखल देने का घनघोर विरोधी नहीं रहा है। उदाहरण के लिए मनु भगवान् की हाल ही की कृति में आधुनिक भारत के जिन संस्थापकों के “संप्रभुता प्राप्त करने के बाद” के दर्शन पर बल दिया गया है, उनका संयुक्त राष्ट्र पर और देशों की संप्रभुता की कीमत देकर मानवाधिकार हासिल करने के महत्व पर भी गहरा विश्वास था। दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद हमेशा ही कम से कम अपने अस्तित्व के पहले चार

दशकों में तो शांति बनाये रखने के कुछ प्रयासों को छोड़कर सक्रिय रूप से मानवाधिकार संबंधी हस्तक्षेपों के पक्ष में नहीं रही है और मोटे तौर पर संप्रभुता के उन मूल सिद्धांतों का पालन करती रही है जिनके कारण सत्रहवीं सदी से यह अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली सुदृढ़ होती रही है. संप्रभुता एक ऐसा मान्य सिद्धांत रहा है जो प्रत्येक देश को बाहरी देशों की ओर से होने वाले हस्तक्षेप से रोकता रहा है ताकि उनके नागरिक संप्रभुता के अधिकारों को भोग सकें. आज भारत अंतर्राष्ट्रीय मानक के रूप में संप्रभुता का भारी समर्थक है ; और संप्रभुता को लेकर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का दृष्टिकोण पहले की तुलना में कहीं अधिक लचीला हो गया है.

इसकी विपरीत दिशा में समवर्ती परिवर्तन का संकेत मिलता है. भारत के संदर्भ में इसका उत्तर देशों के देशीय अधिकार और औचित्य के बदलते स्वरूप में निहित है. बदलते समय के साथ भारत को लगातार जटिल किस्म की बढ़ती आंतरिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता रहा है, भले ही यह कश्मीर और पूर्वोत्तर का विद्रोह हो या नक्सलवादी आंदोलन के नाम से मशहूर चरमपंथी वामपंथियों का संघर्ष हो. हिंसक चुनौतियों का सामना करने के लिए राज्य को भी हिंसक दमन का सहारा लेने के लिए विवश होना पड़ता है और कभी-कभी इस दमन के कारण मानवाधिकारों का भी उल्लंघन हो जाता है. मानवाधिकारों के उल्लंघन से बाहरी शक्तियों को हस्तक्षेप करने का बहाना मिल जाता है, जिसके कारण पहले से ही दुर्लभ सरकारी तंत्र की नींवें ही हिलने लग जाती हैं. यही कारण है कि भारतीय राजनयन मानवाधिकार की भाषा बोलने से कतराते हैं, क्योंकि भारत सरकार स्वयं भी अक्सर अपने नागरिकों के अधिकारों का हनन करने की दोषी रही है. दिल्ली कभी इस डर से मानवाधिकार संबंधी हस्तक्षेप का समर्थन नहीं करती कि कहीं भारत के विशेषकर अपने ही आंतरिक संघर्षरत क्षेत्र कश्मीर पर उंगुली न उठायी जा सके. प्रेमशंकर झा के शब्दों में, “जो भी सम्मेलन पश्चिम को भारत में संरक्षण के नाम पर हस्तक्षेप करने की इजाज़त देते हैं वे ही भारत को आगामी वर्षों में साये की तरह घेरे रहते हैं. ”

शीत युद्ध की समाप्ति पर संप्रभुता को लेकर भारत के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है. 1947 और 1989 के बीच भारत ने प्रति वर्ष 0.44 हस्तक्षेपों की दर से उन्नीस अमानवाधिकार संबंधी सैन्य हस्तक्षेपों में भाग लिया है, जिनका संबंध दूसरे देशों की संप्रभुता से रहा है. इनमें भारत की स्वतंत्रता के बाद कुछ बड़ी रियासतों को और पुर्तगाली शासन से गोआ को मुक्त कराने के लिए जोर- जबर्दस्ती से भारत में मिलाने की कोशिशें भी शामिल रही हैं. चीन के साथ सीमा विवाद को लेकर प्रधानमंत्री नेहरू की घोषित नीति, 1971में बंगलादेश संकट के समय भारत का हस्तक्षेप, अस्सी के दशक में श्रीलंका और मालदीव में (निमंत्रण द्वारा) भारत का हस्तक्षेप भी इसी प्रक्रिया का ही हिस्सा रहा है. 1990 और 2005 के बीच प्रतिवर्ष हस्तक्षेपों की दर मात्र 0.2 ही रही है, जो मुख्यतः पाकिस्तान और बंगला देश से साथ सीमा विवादों की अपेक्षाकृत छोटी-मोटी झड़पों के रूप में ही हुईं. दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद जो शीत युद्ध के दौरान महाशक्तियों की आपसी होड़ के बावजूद निष्क्रिय बनी रही, इस अवधि में अमरीकी नेतृत्व में एक सक्रिय संस्था की तरह कहीं अधिक सक्रिय रही है. नब्बे के दशक के आरंभ से ही यह संगठन दुनिया भर के अनेक संघर्षों में उलझा रहा. 1991-92 में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में भारत की छठी पारी के दौरान संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की संघर्षमय गतिविधियों में भारी उछाल आया और यह संगठन ईरान, ईराक, कुवैत, इज़रायल, लेबनान, पूर्व

युगोस्लाविया (और इसके उत्तराधिकारी देश), लीबिया, अंगोला,सोमालिया, दक्षिण अफ्रीका, मोज़ांबीक और कम्बोडिया जैसे अनेक देशों के संघर्षों में उलझा रहा.

शीतयुद्धोत्तर संघर्षों का स्वरूप कुछ हटकर रहा है. ये संघर्ष मोटे तौर पर अलग-अलग देशों के बीच संघर्ष होने के बजाय इन देशों की सीमाओं के भीतर नागरिक संघर्षों के रूप में ही सिमटे रहे हैं. इस समय संयुक्त राष्ट्र का मुख्य एजेंडा मानवाधिकार संबंधी हस्तक्षेप हो गया है और इन हस्तक्षेपों और मानवाधिकारों के लिए सहायता प्रदान करना एक ऐसी कसौटी बन गयी है, जिससे इन देशों का आकलन किया जाता है. औद्योगिक विश्व में जनमत और सरकार की राय के बीच संतुलन इस बात पर निर्भर रहने लगा है कि वे संघर्षमय स्थितियों में नागरिकों को बचाने के लिए किस हद तक हस्तक्षेप कर पाते हैं. इसका अर्थ यह है कि संप्रभुता पर अंतर्राष्ट्रीय सर्वानुमति अब “सापेक्ष संप्रभुता” के सिद्धांत पर निर्भर रहने लगी है. इस सिद्धांत में राष्ट्रों के लिए कुछ दायित्व भी निहित हैं. इनमें से एक दायित्व है, नागरिकों की सुरक्षा. भारत के सामने खड़ी चुनौतियों ने इसे विवश कर दिया है कि यह संप्रभुता की पूरी अवधारणा को नये सिरे से परिभाषित करे.

इसके संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में भारत की भावी भूमिका क्या होगी? भारत सरकार और प्राधिकारियों के सामने आने वाली अनेक प्रकार की आंतरिक चुनौतियों से संबंधित अस्थिर नीतियों की पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक दृष्टि से भारत अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने की अभूतपूर्व स्थिति में है. महाशक्तियाँ अब बहुत देर तक संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में भारत के प्रतिनिधित्व को लेकर भारत की माँग की अनदेखी नहीं कर सकती और न ही वे भारत से यह अपेक्षा कर सकती हैं कि वह अपनी घरेलू प्राथमिकताओं को एक तरफ़ रखकर उन निर्णयों में उनका समर्थन करता रहे जिनके कारण उसकी संप्रभुता पर आँच आती हो. अंतर्राष्ट्रीय समुदाय इस यथार्थ के नीति संबंधी निहितार्थों को सही तौर पर न समझकर भारत पर एक ऐसा गलत लेबल चिपका सकता है जिससे यह लगे कि पश्चिमी सिद्धांतों का विरोधी होने के कारण या सांस्कृतिक हठधर्मिता के कारण ही भारत संप्रभुता के संबंध में निरंकुश रुख अपना रहा है.

इस संदर्भ में लगातार निराशावादी बने रहने के बजाय सापेक्ष संप्रभुता के बढ़ते मानक का विकल्प प्रस्तुत करने के लिए भारत बहुत कुछ कर सकता है. असमान घरेलू अधिकारों को साथ लेकर एक उभरती हुई लोकतांत्रिक शक्ति के रूप में भारत की अपवाद स्वरूप स्थिति को सामने रखकर दिल्ली संप्रभुता के संबंध में एक ऐसी सुविचारित नीति गढ़ना शुरू कर सकता है जो संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में पूर्व (रूस और चीन) और पश्चिम (अमरीका, यूके और फ्रांस) के अतिवादी रुख के बीच संतुलन स्थापित कर सके. संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की बहसों में भारत पिछले दो वर्षों में जो भी हस्तक्षेप करता रहा है वह मोटे तौर पर कार्यविधि और परिचालन को लेकर रहा है. संप्रभुता का जो मूल सिद्धांत दाँव पर लगा है, उससे भारत निरंतर बचता ही रहा है. अनौपचारिक रूप में भारतीय राजनयज्ञ और विश्लेषक मुआमार गद्दाफी जैसे तानाशाहों को दबाने के लिए पश्चिमी हस्तक्षेप और पश्चिम की उत्सुकता का मखौल ही उड़ाते हैं. परंतु पश्चिम के संकल्प के पाखंड और ढुलमुलपन का तर्क इतना बोदा है कि इसके कारण मानवाधिकार और मानवतावादी हस्तक्षेप के मामलों में दखल न देना साफ़ दिखायी पड़ता है. यदि भारत उदीयमान शक्ति के समानांतर अपने राष्ट्र निर्माण के लिए

पर्याप्त समय और अंतराल चाहता है तो उसे मूल सिद्धांतों से जुड़ने और स्थापित मानकों के विकल्पों की पेशकश करने के लिए बहुत कुछ करना होगा.

रोहन मुखर्जी प्रिंसटन विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग में डॉक्टरेट के प्रत्याशी हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>